प्रतिमान

समय समाज संस्कृति

जनवरी–जून, 2020 (वर्ष 8, अंक 15)
समाज–विज्ञान और मानविकी की पूर्व–समीक्षित अर्धवार्षिक पत्रिका

भारतीय भाषा कार्यक्रम
विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस)
29, राजपुर रोड, दिल्ली–110054 फ़ोन : 91.11. 23942199
ईमेल : pratiman@csds.in; वेबसाइट : www.csds.in/pratiman
+

21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002 फ़ोन : 91.11.23273167, 23275710
ईमेल : vaniprakashan@gmail.com; वेबसाइट : www.vaniprakashan.com

सेंटर फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसाइटीज़, 29, राजपुर रोड, दिल्ली–110054 के निदेशक संजय कुमार के लिए प्रकाशक एवं मुद्रक अमिता माहेश्वरी, वाणी प्रकाशन, 21–ए, 4695, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002 द्वारा प्रकाशित और ऑप्शन प्रिंटोफ़ास्ट, 41, पटपड़गंज इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली–110092 में मुद्रित। सम्पादक : अभय कुमार दुबे

मूल्य : व्यक्तिगत : ₹ 350, संस्थागत : ₹ 500
विदेशों के लिए : $ 20+डाक ख़र्च अतिरिक्त या किसी अन्य मुद्रा की समकक्ष राशि

ISSN: 2320-8201

अनुक्रम

एक ऐतिहासिक संकट, उसके विविध आयाम, और राजनीतिक विरोधाभास

पंद्रहवाँ *प्रतिमान* जिस दौर में प्रकाशित हो रहा है, वह हमारे राष्ट्र, लोकतंत्र और समाज के लिए एक ऐसे संकट की घड़ी है जिसे अतिशयोक्ति का जोखिम उठाए बिना ऐतिहासिक की संज्ञा दी जा सकती है। यह संकट आँखों से दिख रहा है, हाथों से महसूस किया जा सकता है और इसकी निपट भौतिकता हमारे जीवन और मानस को आक्रांत कर रही है। क़रीब बीस साल पहले भारतीय राजनीति के अनूठे अध्येता धीरूभाई शेठ ने हमें बताया था कि किसी परिस्थिति को संकटग्रस्त मानने के मानक क्या होने चाहिए। धीरूभाई के मुताबिक़ हर समस्या, वह कितनी भी गम्भीर क्यों न हो, संकट नहीं होती। दरअसल, समस्याएँ किसी-न-किसी परिस्थिति की देन होती हैं और उन्हें उसी परिस्थिति की तात्कालिकता के दायरे में और माँग के मुताबिक़ हल किया जा सकता है। लेकिन, समस्याएँ अगर लम्बे अरसे तक हल न की जाएँ तो वे अपनी तात्कालिकता से परे जा कर संचित प्रभाव के ज़रिये संकट का रूप ले लेती हैं। अर्थात् समस्याएँ संकट तब बनती हैं जब उनके कारण मूलभूत प्रणाली को नुक़सान पहुँचने लगे। उस सूरत में उन्हें प्रणालीगत संरचनागत परिवर्तनों के ज़रिये ही निबटाया जा सकता है। मौजूदा संकट न केवल धीरूभाई द्वारा निर्धारित शर्तों के मुताबिक़ परिभाषित किया जा सकता है, बल्कि पिछले संकटों से अगर तुलना की जाए तो इसे ऐतिहासिक की श्रेणी में भी रखा जा सकता है। पिछले संकट या तो राजनीतिक थे, या आर्थिक। यह बहुमुखी होने के साथ-साथ अपने विस्तार में इतना व्यापक है कि इससे कतरा कर निकल जाना हमारे लिए असम्भव है। लाज़िमी तौर पर इसका सामना प्रणालीगत सुधारों के ज़रिये ही करना होगा।

इस विश्लेषण के बावजूद अगर कोई चाहे तो इस संकट के होने पर बहस कर सकता है। लेकिन, उस बहस के साथ-साथ संकट के विभिन्न आयामों और उसकी संरचना को समझने की शुरुआत करने का उद्यम भी करना चाहिए। इसके लिए पहले उस संगीन मुक़ाम की चर्चा करनी ज़रूरी है जिसके कारण अरसे से

भीतर ही भीतर पक रहा यह संकट अचानक उभर आया है। यह मुक़ाम है कोविड-19 या कोरोना महामारी का प्रकरण। दुनिया में कोरोना से लड़ने के कई मॉडल अपनाए गये, लेकिन भारत ने सम्पूर्ण लॉकडाउन (घरबंदी-समाजबंदी) की रणनीति को न केवल प्राथमिकता दी, बल्कि उसे लागू करने में पश्चिमी देशों को भी पीछे छोड़ दिया। नतीजतन, भारत में दुनिया का सबसे बड़ा और सबसे कड़ा लॉकडाउन किया गया। जनता के ज़्यादातर हिस्सों के साथ-साथ जीवन के हर क्षेत्र में सक्रिय अधिकतर बुद्धिजीवियों ने भी इस प्रक्रिया को गम्भीरता से अपनाया। रोज़मर्रा की ज़िंदगी पर ज़बरदस्त बंदिश लगाने वाले राजकीय आदेशों का ऐसा प्रश्नहीन अनुपालन पहले कभी नहीं देखा गया था। एकबारगी ऐसा लगा कि शायद हमारे देश ने एक आज्ञापालक समाज बनने की तरफ़ क़दम बढ़ा दिया है।

बहरहाल, अगर ऐसा करके भी भारतीय राज्य कोरोना पर लगाम कस पाता, तो शायद इस संकट की अभिव्यक्तियाँ अभी इतनी तीखी न होतीं। लेकिन, इस लॉकडाउन के बावजूद भारत में कोरोना महामारी नियंत्रित होने के बजाय विश्व के किसी भी देश के मुक़ाबले तेज़ रफ़्तार से अपने पाँव पसारती चली जा रही है। जिसे महामारी का शिखर कहते हैं (यानी वह मुक़ाम जिसके बाद महामारी का ग्राफ़ नीचे जाना शुरू होता है) दिल्ली और केरल को छोड़ कर इस विशाल देश के किसी प्रांत में दूर-दूर तक नहीं दिख रहा है। कोरोना ने लोकतंत्र, आज़ादी, सामुदायिकता, राज्य और समाज के संस्थागत विन्यास, व्यवस्था में ग़रीब और वंचित की जगह, इंसान के इंसान से रिश्ते और मनुष्य के बनाये हुए संसार की आंतरिक दुर्बलता पर बेरहम रोशनी फेंकी है। इससे उपजे प्रश्नों पर हमें भारतीय के साथ-साथ वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भी विचार करना होगा। लेकिन, इस संक्रामक बीमारी के कारण हमारी पहले से ही जर्जर स्वास्थ्य-प्रणाली, क्षयग्रस्त शिक्षा-व्यवस्था और नवीकरण की लम्बी प्रतीक्षा में भुरभुरे पड़ चुके नागरिक प्रशासन की सीवनें बाहर निकल आयी हैं। यह कोरोना का विषाणु ही है जिसने उन लोगों को भी यह संकट देखने-महसूसने के लिए मजबूर कर दिया है जो घूरे के ऊपर घास की परत उगा कर हरी-भरी सम्भावनाओं का नज़ारा पेश करने में लगे हुए थे। करोड़ों प्रवासी मज़दूरों द्वारा चलाए गये स्वयं को बचाने के अहर्निश अभियान को करुणा और संघर्ष की किसी पौराणिक महागाथा की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रकरण ने व्यवस्था की अंतर्निहित अमानवीयता को अवक्षेपित कर दिया है।

कोरोना की निरंतर जारी विपत्ति का भीषण दुष्परिणाम यह निकला है कि विभिन्न कारणों से टिकी हुई दीर्घकालीन मंदी की हदों से भी नीचे गिर कर चौतरफ़ा पस्ती (नकारात्मक वृद्धि) का सामना कर रही अर्थव्यवस्था लगभग मृतप्राय: स्थिति में पहुँच गयी है। चाहे उद्योग का क्षेत्र हो, कृषि हो या सेवा-क्षेत्र; निवेश, उत्पादन, आमदनी और उपभोग का चक्र एक इंच आगे नहीं खिसक पा रहा है। यह आर्थिक संकट परिस्थितिजन्य न हो कर प्रणालीगत है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है पिछले बीस साल से बैंकिंग प्रणाली में लगा हुआ बट्टेखाते डाले जाने वाले क़र्ज़ों (एनपीए) का वह घुन जिसने उस बंदोबस्त को भीतर से पूरी तरह खोखला कर दिया है जिसे अर्थव्यवस्था की रीढ़ माना जाता है। जुलाई के आख़िरी दिनों में जारी रिज़र्व बैंक की अर्धवार्षिक वित्तीय स्थिरता रपट ने बिना किसी लाग-लपेट के बताया

है कि एनपीए का ग्राफ़ पिछले 31 मार्च, 2000 के बाद सबसे ऊँचा होने वाला है। बैंकों से क़र्ज़ लेने वालों की संख्या में भारी गिरावट होना तय है। बैंकों की सम्पत्तियों की गुणवत्ता में भयानक क्षय हो रहा है। आम जनता की गाढ़ी कमाई बैंकों में अब पहले की तरह सुरक्षित नहीं रह गयी है।

रिज़र्व बैंक ने आपत्ति दर्ज कराते हुए यह भी कहा है कि स्टॉक एक्सचेंज में आने वाला उछाल अर्थव्यवस्था की वास्तविक हुलिया की नुमाइंदगी न करके भ्रामक तस्वीर पेश करता है। इसके परिणाम बेहद नुक़सानदेह निकल सकते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि वित्तीय प्रणाली की क्वालिटी में आयी गिरावट की ज़िम्मेदार केवल मौजूदा सरकार नहीं है। उससे पहले दस साल चली कांग्रेस सरकार ने एनपीए की समस्या को न केवल जन्म दिया था, बल्कि उसे बिगाड़ा भी था। लेकिन, मौजूदा सरकार भी अब छह साल पूरे कर चुकी है। रिज़र्व बैंक की रपट जिन विफलताओं पर उँगली रखती है उसकी ज़िम्मेदारी से आज की सरकार सत्ताच्युत हो चुके हुक्मरानों के दरवाज़े पर ठीकरा फोड़ कर नहीं बच सकती।

संकट का दूसरा पहलू विदेश और रक्षा नीति से संबंधित है। पिछले कुछ दशकों का सिंहावलोकन करने पर याद नहीं आता कि भारत के अपने पड़ोसी देशों से इतने ख़राब संबंध कभी रहे होंगे। ऊपर से हुआ यह है कि पहले डोकलाम में और फिर पूर्वी लद्दाख में चीन द्वारा किया गया अतिक्रमण एक ऐसी चट्टान में बदल चुका है जिसके नीचे भारत का हाथ बुरी तरह से दब गया है। अब इसे बहुत धीरे-धीरे धैर्य और कुशलता के साथ इंच-इंच करके ही निकाला जा सकता है। वक़्त खाने वाली इस प्रक्रिया में हमें कुछ न कुछ नुक़सान झेलना ही होगा। राष्ट्रीय स्वाभिमान पर हो रहे इस आघात की ज़िम्मेदारी एक हद तक एशियायी महाशक्ति बनने की भारतीय महत्त्वाकांक्षा पर डाली जा सकती है। पिछले कुछ दशकों से भारत आर्थिक और सामरिक मोर्चे पर बिना पर्याप्त शक्ति अर्जित किये ही छोटे देशों को अपने रुतबे में लेने की जो कोशिश करता रहा है, उसी का यह संचित दुष्परिणाम है। चीन के साथ 'एशियायी सेंचुरी' का नेतृत्व करने की दावेदारियों का दम घुट चुका है।

संकट का तीसरा पहलू संसदीय प्रणाली से जुड़ा है। हर छह महीने में किसी-न-किसी राज्य में सरकार गिराने का नाटक शुरू हो जाता है। विधायकों की ख़रीद-फ़रोख़्त की मण्डी सजती है। सत्ता के दलाल करोड़ों रुपयों से भरे थैले ले कर ख़ुफ़िया बैठकें शुरू कर देते हैं। पाँच सितारा होटलों और भव्य सैरगाहों में जन-प्रतिनिधियों को बंधक बना कर रखा जाता है। इन घटनाओं की तात्कालिकता के परे जा कर देखने से स्पष्ट हो सकता है कि इनके केंद्र में जनप्रतिनिधित्व की प्रकृति पर लगा सवालिया निशान है। जनता, उसके प्रतिनिधि और उस प्रतिनिधि की पार्टी का आपसी रिश्ता पूरी तरह से गड़बड़ा गया है। उसकी जो भी संहिताएँ थीं, वे अब काम नहीं कर पा रही हैं। संविधान को अगर देखें तो साफ़ हो जाता है कि उसमें सरकार किसी पार्टी द्वारा नहीं बनाई जाती। सरकार की रचना जनप्रतिनिधियों का समूह करता है। इस दृष्टि से सरकार बनाने में पार्टी अपने आप में कोई संवैधानिक भूमिका नहीं निभाती। लेकिन, पार्टियों का चुनाव आयोग के पास पंजीकरण होता है, वे चुनाव लड़ती

हैं, उन्हें चुनाव-चिह्न आवंटित किया जाता है। और, जब से दल-बदल विरोधी क़ानून बना है, तब से पार्टी का दर्जा पहले से कहीं ज़्यादा क़ानूनी हो गया है, हालाँकि उसकी सांविधिक स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है।

वस्तुस्थिति यह है कि हमारा जनप्रतिनिधि क़ानून और दल-बदल विरोधी क़ानून, दोनों, एक बड़ी हद तक लोकतांत्रिक नैतिकताओं की रक्षा करने में नाकाम हो चुके हैं। लोकतंत्र की व्यावहारिकताओं के नाम पर अब वे विकृतियों के स्रोत-भर हैं। अगर किसी पार्टी का विधायक दल संख्या में बड़ा है, और उसमें विभाजन करने लायक़ विधायकों को पटाना मुश्किल हो रहा है, तो असंतुष्ट विधायकों से इस्तीफ़ा दिला कर पहले सरकार अस्थिर करवा दी जाती है, और फिर उपचुनावों में उन्हीं विधायकों को नयी सत्तासीन पार्टी अपना टिकट दे कर दोबारा चुनवा देती है। इस प्रकार लोकतंत्र रहते हुए भी नहीं रहता। या केवल नाममात्र का रह जाता है। यहीं सवाल उठता है कि इस राजनीतिक गंदगी को साफ़ करने के लिए कोई पार्टी या सरकार पहलक़दमी क्यों नहीं लेती? न तो कांग्रेस सरकारों ने इस सिलसिले में कोई दिलचस्पी दिखाई, और न ही भाजपा की सरकारों ने। यहाँ तक कि क्षेत्रीय दल भी मसले पर किसी पहलक़दमी का प्रदर्शन करने में नाकाम रहे हैं। निष्कर्ष यही निकलता है कि इन सभी को बीमार लोकतंत्र में दिलचस्पी है, न कि स्वस्थ लोकतंत्र में। यानी, यह गंदगी इसी तरह फैलती रहेगी। हर छह महीने में किसी-न-किसी विधानसभा में राजस्थान जैसा ही नज़ारा देखने में आएगा। अभी मध्य प्रदेश में यह सब हो चुका है, कर्णाटक की राजनीति भी इसी दौर से गुज़र चुकी है, उत्तराखण्ड की कहानी तो कोर्ट के फ़ैसलों में दर्ज है ही।

संकट का चौथा आयाम धीरूभाई के शब्दों में व्यवस्था की जन-वैधता में आयी उस गिरावट को रेखांकित करता है जिसके प्रमाण तमिलनाडु के तूतुकुडी ज़िले से उत्तर प्रदेश के कानपुर तक फैले हुए हैं। तूतुकुडी के ही एक थाने में एक पिता-पुत्र को हिरासत में यातनाएँ दे-दे कर मार डाला गया। दूसरी तरफ़ 'विकास दुबे कानुपर वाला' भारतीय लोकतंत्र की विफलता और स्तरहीनता का एक रूपक बन गया है। ख़ास बात यह है कि ये नाकामियाँ कुछ इस तरह की हैं जिन्हें हमारा लोकतंत्र बार-बार दोहराए जाने के लिए अभिशप्त है। ऐसे प्रकरणों को रोकने के लिए व्यवस्था में आमूल-चूल क़िस्म के परिवर्तन करने होंगे। पहला बड़ा बदलाव तो यह करना होगा कि मौजूदा पुलिस प्रणाली में रैडिकल सुधार करके उसकी शक्ल-सूरत पूरी तरह से कुछ की कुछ बना देनी होगी। दूसरा बड़ा परिवर्तन अंजाम देने के लिए राजनीतिक दलों और अपराध की दुनिया के बीच के रिश्तों को निष्प्रभावी बनाने की संहिताएँ तैयार करनी होंगी। तीसरा बड़ा बदलाव न्याय व्यवस्था में करना होगा ताकि अगर अपराधी को गिरफ़्तार करके अदालत में पेश कर भी दिया जाए तो उसे सुचिंतित और निष्पक्ष तरीक़े से सज़ा दी जा सके, पुलिस को फ़र्ज़ी एनकाउण्टर का सहारा न लेना पड़े। इसी के साथ जेल प्रणाली को ब्रिटिश जेल प्रणाली के क़ायदे-क़ानूनों से बाहर निकाल कर नवीकृत करना होगा, ताकि सज़ा काट रहे अपराधी सरगना जेल में ही बैठ कर सुरक्षित रूप से जेल के बाहर अपना साम्राज्य न चला सकें।

संकट की इन अभिव्यक्तियों पर एक नज़र डालने से ही क्या यह नहीं लगता कि भारतीय लोकतंत्र के संस्थागत बंदोबस्त की हुलिया हर कोण से बिगड़ी हुई है। पुलिस, नागरिक प्रशासन, स्वास्थ्य, शिक्षा, न्यायपालिका, विधायिका और चुनाव से संबंधित प्रणालियाँ और संरचनाएँ अपनी अपेक्षित ज़िम्मेदारियों को निभाने के बजाय एक से बढ़ कर एक विकृतियाँ परोस रही हैं। इन सभी क्षेत्रों में तीस साल पहले ही सुधार करने की प्रक्रियाएँ शुरू कर देनी चाहिए थीं। ज़ाहिर है कि ये बहुत बड़े-बड़े काम हैं जो एक बार में किये ही नहीं जा सकते। इन्हें अंजाम देने के लिए कम-से-कम दस या पंद्रह साल लगेंगे, बशर्ते आज की तारीख़ में हमारी सरकार इन परिवर्तनों का ब्लू-प्रिंट तैयार करके सर्वदलीय सहमति के साथ उस पर अमल शुरू कर दे।

इस परिस्थिति का एक प्रकट विरोधाभास भी है। व्यवस्था इतनी संकटग्रस्त है, लेकिन उसकी अभिव्यक्तियाँ राजनीति के दायरे में तक़रीबन न के बराबर हैं। सरकार मज़बूत है। उसके ख़िलाफ़ कोई राजनीतिक आंदोलन नहीं है, और न ही उसकी कोई तैयारी दिख रही है। विपक्ष के पास अपनी लोकतांत्रिक ज़िम्मेदारियाँ निभाने के लिए न तो कोई तात्कालिक योजना है और न ही भविष्य की कोई कल्पनाशीलता। वह अपनी कुछ राज्य सरकारों के बेहतर प्रदर्शन को भी किसी वैकल्पिक राष्ट्रीय मॉडल की शक्ल देने के बारे में नहीं सोच पाता। नतीजतन, सत्तारूढ़ शक्तियाँ विकल्पहीनता का लाभ उठा कर आराम से बैठी हुई हैं। यह विरोधाभास उस समय और चकित करता है जब हम बहुपार्टी लोकतंत्र की तीखी स्पर्धामूलक राजनीति के आईने में इसे समझने की कोशिश करते हैं।

जो भी हो, इससे कम-से-कम एक अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत का कॉरपोरेट अभिजन, प्रशासनिक प्रभुवर्ग और बौद्धिक इलीट मौजूदा सत्ताधारियों और उनके शीर्ष नेतृत्व में कुछ ऐसी ख़ूबियाँ देख रहा है जो उसे अन्यत्र दुर्लभ प्रतीत होती हैं। यह अलग बात है कि वे ख़ूबियाँ अभी तक ठीक से परिभाषित नहीं की गयी हैं। एक दूसरा अनुमान यह लगाया जा सकता है कि जो राष्ट्रीय सहमति कभी नेहरू और उनके बाद इंदिरा गाँधी के इर्द-गिर्द बनी थी, वह प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की शख़्सियत के आसपास बन गयी है। इसीलिए विपक्ष की वर्तमान हालत के मद्देनज़र इन अभिजनों को लगता है कि अगर मौजूदा सत्ताधारियों के नीचे की ज़मीन खिसकी तो एक बार फिर राजनीतिक अस्थिरता का दौर शुरू हो जाएगा। अगर इन दोनों अनुमानों में यथार्थ का एक अंश है तो हमें उस क्षण का इंतज़ार करना होगा जब भारत का शीर्ष अभिजन मौजूदा नेतृत्व पर इस संकट की ज़िम्मेदारी डालना शुरू करेगा। उसके बाद जो राजनीतिक गोलबंदी होगी, वह शायद हमें नौ साल पहले शुरू हुए भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन की याद दिला दे।

पंद्रहवाँ *प्रतिमान* अपनी विविध शोधपरक सामग्री के साथ 'सामयिकी' के तहत कोरोना-काल से संबंधित दो गहन विचारपूर्ण रचनाएँ पेश करता है। साहित्यालोचक मदन सोनी अपनी टिप्पणी 'असमाप्य गद्य' में इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि प्रकृति पर अंतिम विजय प्राप्त करने का आत्मविश्वास किस तरह कोरोना के प्रकोप के कारण पूरी तरह से डगमगा गया है। इसी स्तम्भ के तहत प्रमोद रंजन ने लम्बी आवरण-कथा 'भय की महामारी' लिखी है, जो सम्भवतः

कोरोना और उसके प्रभावों पर तैयार की गयी अब तक की सर्वाधिक विस्तृत और बहुमुखी समीक्षा है। प्रमोद कोरोना की शुरुआत से ही 'जन-विकल्प' नामक वेबसाइट पर प्रसारित अपनी टिप्पणियों के ज़रिये कोरोना-केंद्रित चर्चाओं के विभिन्न पहलुओं को आलोचनात्मक दृष्टि से परखते रहे हैं। उनके विश्लेषण और निष्कर्षों की विशेषता यह है कि वे पूर्णत: तथ्यों पर आधारित हैं, और उनसे जुड़े इतिहास की पड़ताल करते हुए निकाले गये हैं। प्रमोद की आलोचना-दृष्टि हमारे सामने उत्तर-कोरोना समय का भयावह चित्र पेश करती है। कोरोना विषाणु से निकले और नियोजितपूर्वक निकाले गये भय ने उन बेचैन कर देने वाली विफलताओं को रेखांकित कर दिया है। इन्हें दो धुरियों पर समझा जा सकता है। पहली धुरी है महामारी के नाम पर लोकतंत्र, इंसान की आज़ादी, प्रतिरोध और असहमति की संरचनाओं का तत्परता के साथ स्थगन और उस स्थगन को अनिवार्य समझ कर ही सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक धरातल पर स्वीकार कर लेना। दूसरी धुरी है आधुनिक जीवन के सकारात्मक पहलुओं की निष्प्रभावी भूमिका और आधुनिकता की कथित प्रौद्योगिकीय समृद्धि का असली चेहरा, जिसके सूचना-क्रांति, सांख्यिकीय कौशल और कृत्रिम बुद्धि जैसे उपादान एक निहायत ही कमज़ोर क़िस्म के वायरस को मृत्यु के भीषण डर का वाहक बना कर पेश करते हुए दिखते हैं।

भारतीय विचार पर गहन चिंतन-मनन में रमे हुए सुदीप्त कविराज की एक कृति पाठकों को 'विशेष लेख' के तहत मिलेगी। इस रचना में प्रोफ़ेसर कविराज ने *महाभारत* के प्राचीन और आधुनिक आख्यानों के बीच अंतर रेखांकित करते हुए उन पहलुओं की तरफ़ इशारा किया है जो यथार्थ का अतिक्रमण करते हुए चरम सौंदर्यशास्त्र की निर्मितियों को अनावृत करते हैं। ख़ास बात यह है कि इस भाष्य के केंद्र में महाकाव्य के स्त्री-पात्र हैं। आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने अपने स्तम्भ 'आईना' में भारतीय प्राच्यविद्या की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की है, और साथ में औपनिवेशिक उद्देश्यों से चलाई गयी प्राच्यवादी बौद्धिक परियोजना से उसके अंतर को स्पष्ट किया है। इस अंक में अभय कुमार दुबे का एक विस्तृत लेख 'बहस के लिए' के तहत प्रकाशित किया जा रहा है। 'भाषा परिवार और सभ्यता का नस्ली सिद्धांत' में ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा प्रायोजित नव-प्राच्यवाद के उस प्रकरण का आलोचनात्मक आख्यान है जिसके पीछे अठारहवीं सदी में पनपे युरोपीय भाषा-विश्लेषण के आग्रह थे।

'संधान' में इस बार इतिहासकारों की धूम है। हिंदी फ़िल्मों के भाषाई पक्ष पर गहन शोध करने वाले इतिहासकार रविकान्त ने पिछली सदी के चौथे दशक की पत्रिका *चित्रपट* को आधार बना कर तत्कालीन सिनेमा के रचनात्मक अवदान, नैतिक सरोकार और आग्रह, भाषाई नवाचार एवं अन्य विशेषताओं पर रोशनी डाली है। युवा अनुसंधानकर्ता चारु सिंह ने गीता प्रेस, गोरखपुर के प्रकाशनों की पड़ताल करते हुए हिंदी नवजागरण का वाहक समझी जाने वाली भारतेंदु युग की लेखक-मण्डली के स्त्री संबंधी विचारों की प्रतिगामिता पर विस्तार से प्रकाश डाला है। लैंगिक दृष्टि से राजस्थान के इतिहास की परतों में उतरने वाली कैलाशरानी चौधरी ने इस बार उस 'रोटी साट्टा' प्रथा की संरचनाओं से अवगत कराया है जो स्त्रियों को दास बनाने का ही एक भिन्न रूप थी। पाठकों के

सुपरिचित शुभनीत कौशिक ने उन्नीसवीं सदी में हिंदी के विज्ञान-लेखन और उसमें निहित दुचित्तेपन की जाँच की है। सुकेश लोहार ने अठारहवीं सदी की राजनीति में प्रभावी हस्तक्षेप करने वाले योद्धा-संन्यासियों के महानायक अनूप गिरी के जीवन और कृतित्व के ज़रिये कुछ मानीख़ेज़ निष्कर्ष निकाले हैं। इनसे पता चलता है कि बंकिम के *आनंदमठ* की शैली में इन योद्धा-संन्यासियों को हिंदू-राष्ट्रवाद के खाँचे में नहीं फ़िट किया जा सकता। आदिवासी समाज की समस्याओं पर लगातार अनुसंधान कर रहे कमल नयन चौबे ने इस बार उस अंतर्विरोध की तरफ़ इशारा किया है जो जनजाति-क्षेत्रों में ग़ैर-आदिवासियों, ख़ासकर दलित समुदायों की बसावट से पैदा होता है। कमल का कहना है कि आदिवासियों के हाशियाकरण के बीच दलित-उपस्थिति एक और हाशिया बनाती है जिसमें सिमटे रहने के लिए अनुसूचित जातियों का यह हिस्सा अभिशप्त है।

पंद्रहवाँ *प्रतिमान* नौ पुस्तकों की समीक्षाओं के बहाने भी बहुत कुछ कहता है। अभय कुमार दुबे की हाल ही में प्रकाशित बहुचर्चित रचना *हिंदू-एकता बनाम ज्ञान की राजनीति* की आलोचनात्मक परख पर आयोजित संवाद में आदित्य निगम और नरेश गोस्वामी ने भाग लिया है। इसके अलावा प्रतिमान की लेखक-समीक्षक मण्डली के शीर्ष सदस्य आलोक टण्डन ने गाँधी विचार और अहिंसा-विमर्श से संबंधित दो कृतियों (नंद किशोर आचार्य कृत *अहिंसा की संस्कृति* और सरोज कुमार वर्मा कृत *गाँधी : भविष्य का महानायक*) की विवेचना की है। आशुतोष कुमार ने नरेंद्र शुक्ल की शोधपरक रचना *ब्रिटिश राज और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता : औपनिवेशिक भारत में प्रतिबंधित साहित्य, 1907-1935* का अर्थग्रहण किया है। कुँवर प्रांजल सिंह ने राजनीतिशास्त्र के दो महारथियों उज्ज्वल कुमार सिंह और अनुपमा रॉय की कृति *इलेक्शन कमीशन ऑफ़ इंडिया : इंस्टीट्यूशनलाइज़िंग डेमॉक्रैटिक अनसर्टेनिटी* पर विचार किया है। संत समीर ने सदन झा की पुस्तक *देवनागरी जगत की दृश्य संस्कृति* में निहित उल्लेखनीय विमर्श का मूल्यांकन किया है। अरविंद कुमार द्वारा प्रदीप कुमार रचित *दलित आंदोलन : बसपा एक विकल्प* तथा अजय कुमार द्वारा बद्रीनारायण की विख्यात हो चुकी रचना *खण्डित आख्यान : भारतीय जनतंत्र में अदृश्य लोग* की समीक्षाएँ भारतीय समाज की दलित-समस्या के दो भिन्न पहलुओं पर रोशनी डालती हैं। रुचि श्री ने विमर्शकार आशुतोष भारद्वाज की कृति *पितृ-वध* की समीक्षा करते हुए हिंदी की आधुनिकता के साहित्यिक आयामों पर टिप्पणी की है।

इनके अलावा इस अंक में हिंदी के विशिष्ट चिंतक प्रेम कुमार मणि द्वारा कालजयी साहित्यकार फणीश्वरनाथ रेणु के जीवन और रचनाशीलता में समायी हुई राजनीति की सतरों पर दृष्टिपात किया गया है। कवि और चिंतक उदयन वाजपेयी ने 'स्मृति-शेष' में उपन्यास-लेखन की दुनिया में नयी ज़मीन तोड़ने वाले कृष्ण बलदेव वैद को याद किया है। 'अनुशासन' में विजय झा ने पत्रिका-अध्ययन के क्षेत्र में उल्लेखनीय काम करने वाली शोवना निझावन द्वारा *सुधा* पत्रिका पर केंद्रित विमर्श का विश्लेषण किया है।